

एकात्म मानव दर्शन तथा आर्थिक विचार

डॉ. आशारानी पाण्डेय

एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत दयानन्द गर्ल्स पी.जी. कालेज, कानपुर

वेद सृष्टि एवं जीवन से सम्बद्ध समग्र ज्ञान और विज्ञान के मूलाधार रूप ग्रन्थ हैं। इनमें वर्णित जीवन प्रक्रिया के मूलतत्त्व किसी स्थान विशेष से सम्बन्धित समुदाय, जाति या धर्म से आबद्ध आचरण तक सीमित न होकर सृष्टि में प्रवर्तित चेतन-अचेतन रूप समस्त जीव-जन्तुओं के अभ्युदय (सुख शान्ति समृद्धिमय कल्याण) के लिए विहित हुए हैं। वेदों की 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय' परक उपर्युक्त जीवन-पद्धति का सिद्धान्त ही "एकात्म मानववाद" के रूप में परिभाषित एवं प्रवर्तित होता हुआ सर्वकालिक रूप से आज भी महापुरुषों एवं मनीषी चिन्तकों द्वारा समादृत तथा उपदिष्ट हो रहा है। इसी श्रृंखला में एक बड़ा नाम जनसंघ नेता, महान विचारक एवं चिंतक दीनदयाल उपाध्याय का है। राजनीति, समाज और अर्थ को मानव मात्र के कल्याण से जोड़ने का जो एक सूत्र पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने दिया वो 'एकात्मक मानवदर्शन' के रूप में विख्यात है।

एकात्म मानववाद शीर्षक की शब्दगत व्युत्पत्ति की ओर यदि ध्यान दिया जाय तो यह निर्विवाद रूप से अभिहित (ज्ञात) होता है कि यह सिद्धान्त वस्तुतः व्यापक रूप से पूरे विश्व के लिए जीवन पद्धति का सिद्ध प्रतिमान है। यथा-एक का अर्थ -सामान्य रूप से 'सर्व' अर्थात् सभी के लिए आत्मा का अर्थ है। ईश्वरसम आत्मीयभाव, मानवता का अर्थ है। तर्कसम्मत ज्ञान-विज्ञानमय जीवन के मूल्य (क्योंकि मानव शब्द इस व्युत्पत्ति के अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञानार्थक मन् धातु से निष्पन्न है)। और वाद का अर्थ है मत (सिद्धान्त), अर्थात् वह वैज्ञानिक जीवन पद्धति जो सभी के लिए समान रूप से सुख-समृद्धिकारी हो।

ऋग्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र उपर्युक्त जीवन-पद्धति के सार्वकालीन सिद्धान्त को, सिद्ध-साधन रूप व्यावहारिक (तर्कसम्मत वैज्ञानिक) एवं सर्व स्वीकरणीय दृष्टि के साथ, निम्नलिखित प्रकार से निदर्शित हुआ दृष्टिगत होता है यथा-

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि ।

अर्थात् देवोपम महनीयजन इसके साक्षी है कि सृष्टि में उत्पन्न सभी मानव अपने-अपने कर्तव्यरूप कर्म (धर्म) के प्रति मन-वाणी से क्रियाशील रहते हुए आजीवन व्यवस्थित आचरण का यथाशक्ति यदि अनुपालन करने का निर्वाह कर सकें तो ऐसे प्रबुद्ध जन, बिना किसी हानि या अवरोध के धन-धान्य की समृद्धि के साथ पारिवारिक जनों की अभीष्ट सन्तति वृद्धि को भी निश्चयेन अधिगत करते हैं। ऐसे लोग ईश्वरीय संबल एवं नैतिक बल के आधार पर सभी प्रकार के दुरित भावों, तथा आरोपित दुष्प्रभावों को निष्फल करके, सच्चे अर्थों में, स्वयं समृद्ध होते हुए चतुर्दिक सर्वजन समृद्धि के संवाहक सिद्ध होते हैं।

भारत की पुण्य-सलिला तपोभूमि समय-समय पर ऐसे ऋषियों और मनीषियों को जन्म देती रही है, जिन्होंने भोग, वैभव और विलासिता का मार्ग टुकरा कर त्याग और तपस्या का जीवन स्वीकार किया। वैभव और ऐश्वर्य की चकाचौंध उन तपःपूत मनीषियों को आकर्षित नहीं कर सकी। वे जाज्वल्यमान तेजपुंज की भाँति जलते रहे, समाज को अपने दिव्य आलोक से आलोकित करते रहे और 'दिये की लौ' की भाँति अचानक बुझ गये। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ऐसे ही तपःपूत मनीषी थे, जिन्हें, 'पद-दलितों के प्रवक्ता' के रूप में स्मरण किया जाता है।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय युगद्रष्टा, युगचेता व युगप्रणेता थे। वे बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। वे स्पष्ट वक्ता, सफल पत्रकार, कुशल संगठनकर्ता एवं चिंतक थे। पण्डित जी ने 'राष्ट्रधर्म', 'पांचजन्य', 'दैनिक स्वदेश' तथा भूमिगत रहकर 'हिमालय' व 'देश भक्त' पत्र-पत्रिकाओं का कुशल एवं सफल संपादन किया।

विश्व के विद्वान-विचारक, पश्चिमी देशों के समाज की प्रगति की वर्तमान दृष्टि, दिशा और सामाजिक-आर्थिक संरचना से संतुष्ट नहीं हैं। आज मनुष्य की मूलभूत समस्याओं का सुखद एवं शान्तिपूर्ण समाधान दे पाने में सब प्रकार के 'वाद' असफल एवं असंगत होते जा रहे हैं। विभिन्न व्यवस्थाओं, नीतियों, दर्शनों एवं दृष्टिकोणों के दीर्घकालीन अनुभवों के बाद आज समूचा संसार एक नई वैकल्पिक व्यवस्था एवं दृष्टिकोण की बड़ी आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है। विकल्प की तलाश के इस कालखंड में हिन्दू मनीषियों द्वारा दी गई व्यवस्थाएँ एवं उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार व सिद्धान्त हमें इस नई संरचना के लिए मार्गदर्शन सूत्र प्रदान कर सकते हैं।

पश्चिमी अर्थचिन्तन कार्टेजियन न्यूटोनियन दर्शन पर आधारित खण्डित यांत्रिक विश्व दृष्टि में से उपजा है। इस पश्चिमी तकनीकी आर्थिक चिन्तन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह धरती के सीमित साधनों से असीमित प्रगति कर लेना चाहता है। इसके कारण ही आपाधापी, लूटखसोट, साम्राज्यवाद, शोषण, संघर्ष व विषमता की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है और सर्वसामान्य समाज की भूख, बेकारी व बीमारी जैसी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं।

हिन्दू मनीषियों ने सर्वांशतः एकात्म विश्वदृष्टि को स्वीकार किया था। इसी को विज्ञान की नवीनतम खोजों ने अब अविभाज्य समग्रता की संकल्पना का नाम दिया है। हमारे मनीषियों ने प्रारम्भ से ही इस सत्य का दर्शन कर लिया था और इसीलिए कहा था— 'यत्पिण्डे तत्त्रह्माण्डे'। उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण चराचर जगत में एक ही चेतन तत्व व्याप्त है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मा' इसी आधार यह कहा गया कि व्यष्टि, समष्टि और सृष्टि ये अलग-अलग और स्वतंत्र इकाइयाँ नहीं हैं। अपितु इनके बीच एक सावयवी अंगांगी सम्बन्ध है। अतः इनके बीच एकलयता एवं एकरसता बनी रहनी चाहिए।

आधुनिक अर्थशास्त्र आर्थिक मानव की अवधारणा पर आधारित है, किन्तु उपाध्याय जी ने इस चिन्तन को नकार कर एकात्म मानव की अवधारणा को प्रस्तुत किया। हिन्दू दृष्टिकोण के अनुसार, मनुष्य आर्थिक इकाई से कहीं बड़ी व्यापक इकाई है। हिन्दू

चिन्तकों ने मनुष्य को केवल अपनी जैव एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यंत्रवत् काम करने वाली किसी भौतिक एवं स्थूल इकाई के रूप में नहीं देखा है। बल्कि वे तो उसे सर्वव्यापक ब्रह्म के स्वरूप में सूक्ष्म एवं चैतन्य 'एकात्म मानव' के रूप में ही स्वीकार करते हैं। मनुष्य को साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप ही माना जाता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' ।

इस दृष्टि से धर्म का अर्थ उन सामाजिक नैतिक नियमों तथा मर्यादाओं से है, जो समाज के धारण, पोषण और विकास के लिए आवश्यक हैं। इस प्रकार धर्म और नैतिकता समानार्थक हो जाते हैं। प्राचीन हिन्दू मनीषियों के अनुसार वही अर्थरचना मंगलकारी हो सकती है जो धर्माश्रयी हो और धर्मनियंत्रित हो। उनके अनुसार नैतिकता (अथवा धर्म) को अर्थशास्त्र, अर्थव्यवहार, अर्थरचना एवं आर्थिक सिद्धान्तों से न तो अलग किया जा सकता है और न ही अलग किया जाना चाहिए।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय स्वतंत्र भारत के राष्ट्रर्षि थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति में रची-बसी इसी 'एकात्म मानव' की अस्मिता को हृदयंगम किया था। विश्व में व्याप्त एकांगिता ने मानव को खण्ड-खण्ड कर दिया था। अतः समग्रतावादी दार्शनिक होने के कारण दीनदयाल जी उन लोगों से असहमत रहते हैं, जो जीवन के किसी विशिष्ट आयाम को जीवन की समग्रता का नियामक मान बैठते हैं अथवा एक ही पहलू की ऐसी अतिरेकी व्यवस्था करते हैं जिसमें जीवन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा हो जाती है।

श्री उपाध्याय ने लिखा है **पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थप्रधान है। हमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय करना चाहिये।** हम हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों का सम्मिलित विचार करते हैं। इसी कारण कुछ लोग हम पर यह आरोप लगाते हैं कि हम आध्यात्मिकता की उपेक्षा करते हैं, महर्षि अरविन्द आदि महापुरुषों की भाषा नहीं बोल पाते। हम दोनों ही प्रकार के आरोपों का स्वागत करते हैं और इतना ही कहना चाहते हैं कि अर्थ समाज की धारणा के लिए आवश्यक है। जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके, उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।

भारतीय अर्थनीति:

विकास की दिशा में अर्थनीति की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने 'एकात्म मानव' के अर्थायाम की व्याख्या की है। यथा-समाज से अर्थ के प्रभाव व अप्रभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को 'अर्थायाम' कहा गया है।

भारतीय संस्कृति में 'धर्म' को आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है। **सुखस्य मूलम् धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।** चाणक्य के इस कथन के अनुसार, अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता। 1953 में लिखे अपने प्रथम अर्थनीति सम्बन्धी प्रलेख में श्री उपाध्याय लिखते हैं: 'हम जानते हैं कि भारतीय धर्म सदा से ही धर्म का ढंग रहा है (मजहब का नहीं) और धर्म

के इस ढंग पर ही आर्थिक नवनिर्माण के लिए नक्शे को तैयार करने की जरूरत है....
... धर्म की..... जो व्याख्या हम लेते हैं जिसमें उसके 12 लक्षण गिनाए गये हैं। इनमें धर्म का आद्यलक्षण सबसे महत्वपूर्ण श्रम है, 'श्रमेण तपसा सुष्टा'। 'श्रम' को धर्म का पहला लक्षण बताया। 'श्रम' की महत्ता का ज्ञान मार्स और एंजिल्स के जन्म तक रूका नहीं रहा। वह अति पुरातनकाल में सहज अनुभूमि से हमने मानवता को दे दिया था। श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्तव्य है। इसी प्रकार मनुष्य को श्रम करने का यह अधिकार देना राज्य का मूलभूत कर्तव्य है। इसी आधार पर दीनदयाल उपाध्याय पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण के संदर्भ में सदैव यह आग्रह करते रहे हैं कि हमें अपना आयोजना-लक्ष्य घोषित करना चाहिए 'सबको काम'।

धन का अभाव मनुष्य को कुप्रभावित करता है। अभाव के समय की गई चोरी को भारतीय शास्त्रकार अपराध नहीं मानते हैं, यथा-उन्होंने (विश्वामित्र) ने धर्म की अनेक मर्यादाओं को भंग किया। आपद्धर्म की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने उनके इस व्यवहार को उचित ठहराया है। यदि अर्थ के अभाव की आपत्ति बनी रहे तो फिर 'आपद्धर्म' अर्थात् चोरी ही धर्म बन जायेगा।" इस प्रकार समाज में अर्थ का अभाव अथवा अभावमूलक नियोजन समाज में अधर्म को धर्म बना देता है। वैसे ही 'अर्थ का प्रभाव भी धर्म का नाश करता है।' अर्थ जब अपने में या उसके द्वारा प्राप्त पदार्थों में और उससे प्राप्त भोग-विलास में संग (आसक्ति) उत्पन्न कर देता है। तब अर्थ का प्रभाव कहा जाता है। 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति' जब समाज में सभी 'धनपरायण' हो जाएँ तो प्रत्येक कार्य के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होगी।

वे प्रतिपादित करते हैं कि "समाज के मानदण्ड ऐसे बनाए जायें कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके। पैसे से ही मूल्य आँकने का परिणाम यह होगा कि दुर्बल की रक्षा ही नहीं हो पायेगी। शरीरशक्ति में दुर्बल अपनी बुद्धि का उपयोग कर धूर्तता से धन कमाकर अपनी रक्षा का मूल्य चुकायेगा (घूसखोरी होगी)। श्रम का रुपये-पैसे में मूल्य आँकना असंभव है। श्रम और पारिश्रमिक दोनों का अर्थशास्त्र के क्षेत्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी व्यवहारजगत के लिए सर्वमान्य मूल्य सिद्धान्त निश्चित करना न तो सरल है और न ही उपादेय।

वास्तविकता तो यह है कि दोनों का मूल्यांकन पृथक मानदण्ड से होता है। श्रम की प्रतिष्ठा उससे मिलने वाले अर्थ के कारण नहीं, अपितु उसके धर्मत्व से है। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को दिया गया पारिश्रमिक उसके द्वारा किये गये श्रम का प्रतिदान नहीं। वरन् उसके 'योगक्षेम' की व्यवस्था है'।

उपाध्याय जी इसी प्रकार के समाजशास्त्र व मनोविज्ञान के हिमायती हैं जिसमें कर्म की प्रेरणा का आधार लोभवृत्ति नहीं, वरन् कर्तव्य हो। वे उस अर्थशास्त्र के खिलाफ हैं जो मानव जीवन एवं उसके मनोवैज्ञानिक पहलुओं की उपेक्षा करता है, यथा-व्यक्तियों की अबाध व असीम प्रतिस्पर्धा को न तो हम सामाजिक जीवन का नियामक मान सकते हैं और न सुरक्षापूर्ण ही।.....यह मान्यता 'मात्स्य न्याय' का प्रतिपादन करने वाली है। हमने इस न्याय को कभी धर्मसंगत नहीं माना।समाज में मानव की कुछ स्वतंत्रता केवल कल्पना की वस्तु है। हाँ, यह नियंत्रण जितना बाहरी होगा, मानव को

कष्टदायी होगा। शिक्षा और संस्कार, दर्शन और आदर्शवाद व्यवहार में मनुष्य को आत्मनियंत्रण सिखाते हैं।

वे आगे कहते हैं—अपनी ही गति से चलने वाले अर्थशास्त्र के हवाले समाज को नहीं किया जा सकता। अर्थचक्र को समाजशास्त्र व धर्मशास्त्र के अनुकूल नियोजित करना आवश्यक है।अपनी ही गति से बराबर गतिमान अर्थव्यवस्था असंभव है। उसे गति देने के लिए व्यक्ति और बाद में भी, कम से कम रुकावट के साथ सुचारु रूप से चलते रहने के लिए, व्यक्ति और समाज के जीवन में प्रेरणा का स्रोत अर्थ के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ढूँढना होगा। राष्ट्र की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ, व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा की अभिलाषा, कुटुम्ब का प्रेम आदि अनेक प्रेरणाएँ वांछित अर्थरचना को बनाने व टिकाने में सहायक होती हैं।

उपाध्याय जी की मान्यता है कि उपभोगवाद, स्पर्धावाद व वर्गसंघर्ष इन सबका आधार अनियंत्रित उपभोग है— यथा पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धान्त को ही चलने दिया और उसमें संशोधन की जरूरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्य के दुःखों का कारण है। उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाय तो वह बढ़ती चली जाती है। वर्गसंघर्ष, जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, उसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है।

भारतीय मतवाद जब वर्ग संघर्ष का खण्डन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियंत्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के बजाय न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्राकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। इसमें ही तीनों का संतुलन है।

साम्यवादी व पूँजीवादी विचारधाराएँ समाजशास्त्र, मानवशास्त्र तथा अन्य विविध शास्त्र सभी को अर्थशास्त्र के हवाले कर देती हैं। अर्थशास्त्र की औद्योगीकरण प्रवृत्ति ने वित्तीय सत्ता के केन्द्रीयकरण को पोषण प्रदान किया है। इससे मानव जीवन का ही मशीनीकरण हो गया है। दीनदयाल जी धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र में पारस्परिक संतुलन के हिमायती हैं।

राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमानों पर किया गया औद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रहा जाता है। तानाशाही की भाँति ऐसा औद्योगीकरण भी दर्शनीय है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की यह रचनाशक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब विकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योगों की व्यवस्था हो।

विकेन्द्रीकरण से मशीन का परित्याग नहीं समझना चाहिए, इसके लिए मशीनों को छोटा जरूर करना पड़ सकता है। बड़ी मशीनों का परित्याग इस अवस्था में आवश्यक है। कुछ ऐसे उद्योग भी हो सकते हैं, जो बड़ी मशीनों से ही चल सकते हों, तो उन

पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय राजकीय स्वामित्व होना चाहिए। ऐसे उद्योग सुरक्षा उद्योगों में आते हैं।

विकेन्द्रीकरण से वे समस्याएँ हल होती हैं, जिनका कारण अतिकेन्द्रीकरण है। पूंजीवाद भी अतिकेन्द्रीकरण के कारण ही उत्पन्न होता है। जब लोगों को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का अवसर ही नहीं मिलेगा तो पूँजी इकट्ठी ही कैसे हो सकेगी? इसमें गाँव तो अधिकाधिक स्वालम्बी होंगे ही, व्यक्ति को प्रेरणा मिलने के कारण वस्तु के गुण तथा उत्पादन दोनों ही बढ़ेंगे। पुरातनकाल के कुटीर उद्योग जितनी उत्तर श्रेणी की वस्तुएँ तैयार करते थे, उतनी आज की मशीन नहीं तैयार कर पाती।

कुटीर उद्योगों में हस्तकौशल और शिल्प को जो बहुत बड़ा क्षेत्र मिलता है, वह मशीन-उद्योगों में बिल्कुल नहीं मिल पाता। जिस प्रकार राजनीतिक लोकतंत्र में ग्राम-पंचायत आदि इकाइयों से लोकतंत्र उठकर ऊपर की ओर चलता है, उसी प्रकार आर्थिक लोकतंत्र में ग्राम तथा कुटीर उद्योगों और इसी प्रकार विकेन्द्रीकरण के अनुसार किये जाने वाले कृषि उत्पादन केन्द्रों से उठाकर लोकतंत्र ऊपर जाना चाहिए।

साम्यवाद केन्द्रित अर्थनीति का ही एक अंग है, अतः उसकी जड़ें आसमान में हैं, जबकि इस अर्थव्यवस्था की जड़ें धरती के भीतर गहरी घुसी हुई हैं। आर्थिक क्षेत्र की तीन वस्तुएँ हैं—मनुष्य, श्रम और मशीन। इन तीनों का समन्वय ही अर्थ-व्यवस्था है, अगर यह समन्वय नहीं, तो उसमें समन्वयहीनता के परिणामस्वरूप विषमताएँ अवश्य होंगी। जो अर्थनीति इन परिणामों से ही अपने दर्शन का सूत्र चलाती है, वह तत्कालिक रूप में इन परिणामों को भले ही दूर कर दे, पर वह व्यवस्था का मौलिक शोधन नहीं कर सकती। मौलिक शोधन के लिए तो कारणों से ही चलकर आगे बढ़ना होगा तथा इन परिणामों को नष्ट करने का उपाय करना होगा।

कुछ लोग पश्चिमी विचारधाराओं में पले हैं और उन विचारधाराओं में प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर ही दुनिया की सब चीजों को समझ सकते हैं। यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो दिखाई पड़ेगा कि दोनों दोषों का मूल कारण एक है। उनकी जड़ें अलग-अलग नहीं हैं। अतः हम यह खोजें कि बुराई कहाँ है? बुराई का वास्तविक कारण व्यवस्था नहीं, मनुष्य है। मनुष्य ही प्रथम आता है। बुरा व्यक्ति अच्छी से अच्छी व्यवस्था में घुसकर बुराई फैला देगा। समाज की प्रत्येक परम्परा और व्यवस्था किसी न किसी अच्छे व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ की गयी। उसी अच्छी परम्परा पर जब बुरा व्यक्ति आ बैठा तो वहाँ बुराई आ गयी।

राज्य-संस्था को ही लें, क्या रामचन्द्र जी राजा नहीं थे ? जहाँ उन्होंने अपने श्रेष्ठ जीवन से राज्य संस्था के गौरव में वृद्धि की, वहाँ अनेकों ने दोषों से उसी को इतना अपवित्र कर दिया कि कई बार राज्य-संस्था का नाम लेने से चिढ़ उत्पन्न होती है। इसी दृष्टि से निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के संघर्ष की ओर देखें। यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतन्त्र रहकर बुराई करता है। तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति

बैठा देने पर भी बुराई फैलेगी। अतः हमारा ध्यान व्यक्ति की कर्तव्य भावना को जगाने पर केन्द्रित होना चाहिए।

परन्तु हुआ क्या? व्यक्ति और दुर्लक्ष्य हुआ और बाह्य व्यवस्था पर जोर दिया गया। निर्जीव व्यवस्था के सामने चेतन मनुष्य नगण्य माना गया। व्यक्ति के अन्दर विद्यमान सद्गुणों के विकास करने के स्थान पर उनका ह्यस करने वाले उपायों का ही अवलम्बन किया गया।

राष्ट्र-निर्माण की योजनाएँ बनाने वालों ने इस तथ्य को सर्वदा भुला दिया कि प्रयास करने पर मनुष्य मानव से देवता बन सकता है। उन्होंने मानव का गर्हित स्वरूप ही सामने लाकर रखा। वे पूँजीवाद के आधार में एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करके चलते हैं जो विशुद्ध 'आर्थिक मनुष्य' (Economic Man) है। यह केवल एक कल्पना है। ऐसा कोई व्यक्ति न कभी पैदा हुआ है और न होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मनुष्य का, चाहे वह पूँजीपति हो या मजदूर प्रत्येक कार्य अर्थ की दृष्टि से होता है। वह अर्थ की विचार भले ही करता होगा पर उसके कार्य का प्रेरक अर्थ ही नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र के नियमों की कसौटी पर यदि मानवीय व्यवहार को कसा जाय तो आपको कहीं भी 'आर्थिक मनुष्य' के दर्शन नहीं होंगे, बल्कि उससे कहीं विशाल सम्पूर्ण मानव का अस्तित्व दिखाई देगा।

पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य माना गया तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद ने 'सामूहिक मनुष्य' (Mass Man) की कल्पना की। मनुष्य को एक प्रकार (Type) मान लिया। उस सामूहिक मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का लक्ष्य ही सामने रखा। उसके जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी गयी। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्यता का विचार नहीं है।

हम पूँजीवाद और समाजवाद के चक्कर से मुक्त होकर मानवता का विचार करें। मानव जीवन के समस्त पहलुओं का विचार कर आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन, वितरण और उपभोग के साधन तथा व्यवस्था बनायें। फिर उसके लिए विज्ञान का उपयोग करें। यह आवश्यक नहीं कि हम विज्ञान के पुराने प्रयोगों को ज्यों-का-त्यों अपना लें। आज हम पश्चिम की टेक्नालोजी की आँख मूंदकर नकल कर रहे हैं। इसे बन्द करना होगा और टेक्नालोजी का प्रयोग मानवता के विकास के लिए करना होगा।

इसके लिए विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था चाहिए। स्वयंसेवी क्षेत्र (Self Employed Sector) को खड़ा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बड़ा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशः आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है।

हमारी योजनाएँ श्रमप्रधान होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना चाहिए। आज की योजनाओं की सबसे बड़ी खराबी यह है कि उनमें देश की स्थिति और आवश्यकताओं का विचार नहीं किया गया। पश्चिम हमें बड़ी-बड़ी मशीनें दे रहा है,

हम लेते जा रहे हैं। एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था लाई जा रही है जिसके कारण देश की बेकारी बढ़ती जा रही है। यदि बेकारी कम होने के स्थान पर बढ़ती ही गयी तो देश की प्रगति का आधार क्या है? यह मैं मान सकता हूँ कि बेकारी एकदम दूर नहीं हो सकती, पर योजनाएँ बनाने से पहले हमें 'प्रत्येक व्यक्ति को काम' के सिद्धान्त को मान्यता देनी पड़ेगी। यदि इसे मान लिया गया तो योजनाओं की दिशा एवं स्वरूप बदल जायेगा भले ही बेकारी धीरे-धीरे दूर हो।

आजकल राष्ट्रीय आय का विचार 'औसत के सिद्धान्त' (Law of Average) के आधार पर किया जाता है, पर यह बहुत बड़ा भ्रम है। राष्ट्रीय आय बढ़ती जाने के बाद भी देश की गरीबी बढ़ती जा रही है। यह क्यों? राष्ट्रीय आय के बढ़ने का अर्थ है, प्रत्येक व्यक्ति की आय बढ़े, प्रत्येक को काम दिया जाय तो गरीबी घटेगी, प्रत्येक की आय में वृद्धि होगी इससे उत्पादन में भी वृद्धि होगी। यह सत्य है कि कम मनुष्यों का उपयोग करने वाली बड़ी मशीनों के द्वारा भी उत्पादन बढ़ सकता है, पर वह हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं।

गाँधी जी कहा करते थे, 'मैं विशाल उत्पादन चाहता हूँ परन्तु विशाल जनसमूह के द्वारा' (I want mass production by masses as well)। जहाँ तक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और विदेशी पूँजी का सवाल है तो इस सारे निवेशों का विरोध करना दकियानूसी है। विदेशी निवेश पूरी दुनिया में चलता है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, अमरीका, जर्मनी, इटली जैसे विकसित देश भी विदेशी निवेशों का स्वागत करते हैं। लेकिन इस संदर्भ में यह समझना होगा कि विकसित देशों में जो विदेशी निवेश होता है और हमारे देश में जो निवेश होता है, उसमें क्या अन्तर है। विकसित देशों में जो विदेशी निवेश होता है वह उनकी शर्तों पर होता है, इसमें हमारे देश के हित का ध्यान नहीं रखा जाता। कई निवेश तो ऐसे होते हैं जिनमें स्पष्ट दिखता है कि इससे देश का नुकसान होगा।

यहाँ यह भी समझना होगा कि धनी देशों के सामने भी अपने पैसे को बाहर के देशों में खर्च करने की मजबूरी है। इस सम्बन्ध में विदेशों में बातचीत के लिए जाने वाले हमारे राजनेता और सचिव यदि अपने देश के हित का विचार करते हुए अपनी शर्तों पर समझौता करते तो देश की यह दशा न होती। यह ठीक है कि लेन-देन में कुछ कम-ज्यादा है लेकिन आज जिस प्रकार के खतरनाक समझौते हुए हैं, ऐसे समझौते नहीं होते।

उपाध्याय जी मानते हैं कि समाजवाद में केन्द्रीकरणवादी पूँजीवाद के सब दोष विद्यमान रहते हैं। इसमें राज्यवादी नौकरशाही का एक अतिरिक्त दोष और जुड़ जाता है। अतः वे पूँजीवाद व समाजवाद दोनों की साझी आलोचना करते हैं, यथा-वर्तमान साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अन्तर छोड़कर और कोई फर्क नहीं है। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं है। दोनों ही अपने केन्द्रित सत्ता की सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार जमाते हैं। उपाध्याय जी विवेचित करते हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पहले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर फिर परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार करती है। तो

समाजवाद राज्य को ही सम्पूर्ण उत्पादनों का स्वामी बना देता है। दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्ति के प्रजातंत्रीय अधिकार एवं उसके स्वस्थ विकास के प्रतिकूल है।

श्री उपाध्याय केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को ही अमानवीय मानते हैं। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति और समाज में तथा कर्ता और कृति में परस्पर 'आत्मीयता' का संचार करती है। ये दोनों व्यवस्थाएँ इस 'आत्मीयता' के संचार को समाप्त कर सम्बन्धों में एक यांत्रिकता पैदा कर देती है, यथा केन्द्रीय व्यवस्थाएँ मानव को मानव न मानकर, उसके एक टाइप के साथ व्यवहार करती हैं। इनमें मानव की विविधताओं और विशेषताओं के लिए कोई स्थान नहीं।

फलतः, वे उसे ऊँचा उठाने के स्थान पर एक मशीन का पुर्जा मात्र बना देती हैं। उसका अपना व्यक्तित्व मर जाता है, अतः विकेन्द्रीकरण ही हमारी संस्कृति के अनुकूल है। केन्द्रीकृत औद्योगिककरण में श्रद्धा रखने वाली 'पूँजीवादी व समाजवादी' व्यवस्थाओं को उपाध्याय जी मानव-विरोधी मानते हैं। अतः वे समग्र मानववाद के आधार पर आर्थिक लोकतंत्र व विकेन्द्रित अर्थनीति का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद व समाजवाद, दोनों ही 'लोकतंत्र व संस्कृति' का व्यवहारतः निषेध करते हैं। उनके इस चिन्तन को युगानुकूल व्यावहारिक रूप देना हमारी पीढ़ी का कर्तव्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – आचार्य बलदेव उपाध्याय
2. कौटिल्य का अर्थशास्त्र
3. एकात्म मानववाद सिद्धांत – पंडित दीनदयाल उपाध्याय, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
4. भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा